Nav Jyoti, Vol. 6, No. 12, January-June 2018 ISSN : 2249-7331

ब्रैडले के चिंतन का केन्द्रिय बिंदु – द्वन्द्वन्याय

डॉ0 वीना शर्मा

अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, सेण्ट एण्ड्यूज पी0जी0 कालेज, गोरखपुर

'द्वन्द्वन्याय' में प्रयुक्त 'न्याय' शब्द का अर्थ 'पद्धति' अथवा 'विधि' है। पाश्चात्य दर्शन में इस विधि का प्रयोग हमें सबसे पहले प्लेटो के संवादों में मिलता है। जहां दो सत्यान्वेषी किसी विचार के विषय में प्रश्नोत्तर करते हुए एक अंतिम निर्णय तक पहुंचने का प्रयास करते है। इस विधि में दो व्यक्तियों का सम्मिलित होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि एक ही व्यक्ति शंकाएं उठाता और उनका समाधान खोजता हुआ अंतिम सत्य पर पहुंचने का प्रयास कर सकता है। जब हम भारतीय दर्शन को देखते हैं तो यहां बहुत प्राचीन काल से ही द्वन्द्वविधि का प्रयोग इसी रूप में मिलता है – सिद्धांती स्वयं ही पूर्वपक्षों की कल्पना करता और उनके उत्तर देता हुआ सिद्धांत पर पहुंच जाता है। पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो के संवादों के बाद द्वन्द्वविधि का प्रयोग अधिकतर इसी रूप में हुआ हैं।[1]

किंतु इस विधि के प्रयोग की पूर्वकल्पना यह है कि 'विचार' में सत को जानने की क्षमता है, अथवा यह विचार केवल सर्वेक्षणात्मक एवं यौक्तिक नहीं है बल्कि उसमें अन्तर्बोध का क्षण भी होता है और अंततः विचार और अंतर्बोध में तादात्म्य हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि द्वन्द्वन्याय में विचार की अंतिम परिणति ज्ञान के विषयी और विषय अथवा सत्ता और ज्ञान के तादात्म्य में होती है। इस प्रकार 'द्वन्द्वन्याय' की यह पूर्वकल्पना है कि वह विचार को अंतर्बोध के उस स्तर तक पहुंचा सकता है, जहां ज्ञाता और ज्ञेय का समस्त भेद समाप्त हो जाता है। [2]

विचार की इस एकता की स्वीकृति अरस्तू की 'थ्योरिया' की धारणा में तथा देकार्त के 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूं ' में मिलती है, किंतु इनमें से किसी ने यह नहीं समझाया कि विचार अपने और अपने विषय के बीच एकता किस प्रकार स्थापित कर सकती है ? हेगल के पहले कोई भी दार्शनिक इस प्रकार की व्याख्या का प्रयास नहीं किया। जर्मन दार्शनिक कांट ने तो मनुष्य में बौद्धिक अंतर्बोध की संभावना को स्वीकार ही नहीं किया था। उसके अनुसार धार्मिक अनुभव में ही विचार का ऐक्य स्थापित हो सकता है, अथवा ईश्वर के ही ज्ञान में बोध और सत्ता का कोई भेद नहीं रहता। कांट ने ज्ञान की परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए, अपनी 'शुद्ध–बुद्धि की परीक्षा' (Critique of Pure Reason) में यह दिखाया था कि बुद्धि–विकल्पों का प्रयोग इंद्रिय संवेद्य बहुप्रकारता के लिए ही किया जा सकता है, जिसका आधार स्वयं विचार नहीं है, बल्कि 'स्वयं वस्तु' (Thing –in-itself) है, और यह अज्ञेय है। अज्ञेय को गोचर (Phenomenal) नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि वह स्वभवतः प्रतिगोचर (Noumenal) है। इसमें ज्ञेय होने की आकांक्षा रहती है, किंतु उसे विचार द्वारा जाना नहीं जा सकता, क्योंकि विचार, अन्तर्बोध रहित होने से अंतर्बोध के आधार को नहीं जान सकता। प्रतिगोचर को धार्मिक, नैतिक एवं रसानुभव में ही जाना जा सकता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि विचार चूंकि सर्वेक्षणात्मक (Discursive) एवं सम्बंधात्मक होता है, अतः वह सत को जानने में तब तक अक्षम रहेगा जब तक वह अंतर्बोध (intuition) में परिणत न हो। [3]

ऐसा लगता है कांट के ज्ञान के विश्लेषण से बुद्धि अथवा विचार के, इस प्रकार सीमित हो जाने से परवर्ती दार्शनिकों पर यह दिखाने का उत्तरदायित्व आ पड़ा था कि किस प्रकार विचार का पर्यवसान अंतर्बोध में हो सकता है, अथवा द्वन्द्वविधि का अंत द्वन्द्व रहित स्थिति में हो सकता है। यह दिखाना इसलिए आवश्यक था कि विचार अंतिम सत तक पहुंचने में सक्षम है, यदि ऐसा संभव नहीं है तो मनुष्य की ईश्वर, ब्रह्म, संत आदि की समस्त धारणाएं सुनहरे सपने बन कर रह जायेगी। शेलिंग और फिक्टे कोई नवीन बात नहीं कह सके, क्योंकि शेलिंग धार्मिक अनुभव में और फिक्टे नैतिक अनुभव में विषयी और विषय का ऐक्य संभव मानते हैं, जैसा कांट ने स्वयं स्वीकार किया था। [4]

हेगल ने बलपूर्वक कहा है कि विचार प्रतिगोचर को जान सकता है। यह कहना कि प्रतिगोचर विचार का विष्य है, और अज्ञेय है, आत्मविरोधी कथन है। विचार और उसके विषय का भेद विचार से बाह्य नहीं है। कांट को विचार की जो सीमाएं दिखाई दी, वे मात्र अदूरदर्शिता की परिणाम थीं। सत् ज्ञेय है, क्योंकि अंतिम विश्लेषण में वह विचार और अस्तित्व की एकता है। इस एकता को हेगल ने निरपेक्ष (Absolute) कहा। निरपेक्ष आत्म चेतन आत्मा है, अतः वह सत होते हुए भी यौक्तिक है। विचार के सभी अवस्थाओं में सत की ही अभिव्यक्ति होती है। वह न तो शुद्ध सत्ता है, न शुद्ध ज्ञान है। सत् का स्वभाव निर्धारणीय (Determinate) है। हेगल शुद्ध सत्ता को शुद्ध शून्य मानता है। उसके अनुसार, किसी वस्तु को अस्तित्ववान कहने का कुछ आशय होता है। यही आशय उसका निर्धारण करता है। किंतु प्रश्न यह उठता है कि 'विचार' के प्रदत्त को अर्थ कौन देता है ? उत्तर है– 'प्रत्यय' । 'प्रत्यय' ही किसी अस्तित्ववान वस्तु का अर्थ होता है। किन्तु सभी 'प्रत्यय' समान रूप से किसी प्रदत्त का अर्थ व्यक्त नहीं करते । विचार में प्रगति होती है और जैसे–जैसे विचार प्रगति करता है, वैसे ही वैसे 'प्रत्यय' अधिक अर्थवान होता जाता है। विचार की यह प्रगति निरपेक्ष की ओर होती है और निरपेक्ष में ही प्रत्यय संपूर्ण अर्थ व्यक्त करता है। विचार के निरपेक्ष स्तर पर ही विचार और अन्तर्बोध का पूर्ण ऐक्य भी होता है।

इस प्रकार हेगल यह दिखाने का प्रयत्न कर रहा है कि सत्ता और विचार के एकीकरण के स्तर होते है। ये स्तर संसृति (Becoming) के स्तर हैं। संसृति का उद्देश्य पूर्णरूप से निर्धारित होना है, जो एक प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होता है। विचार की यह पूर्णता प्राप्त करने की अथवा सत्ता के साथ तादात्म्य लाभ करने की प्रक्रिया हेगल के अनुसार द्वन्द्वात्मक है। इस द्वन्द्वात्मक–प्रक्रिया में तीन पाद होते हैं– वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) तथा संवाद (Synthesis)। जब कोई विचार उत्पन्न होता है, तो उसके सामने विषय के रूप में एक वाद उपस्थित होता है। इस वाद के माध्यम से विषय को अर्थ देने का प्रयत्न करते ही, उस वाद का प्रतिवाद उपस्थित होता है। यह विचार में 'द्वन्द्व' या अन्तर्विरोध की स्थिति होती है। किंतु, विचार इस द्वन्द्व की स्थिति में शांत नहीं रह सकता। विचार में द्वन्द्व का समाधान खोजने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। ज्यों ही विचार को अपने भीतर के द्वन्द्व का समाधान मिलता है, वह एक उच्चतर विचार में परिणत हो जाता है, जिसमें पिछले वाद और प्रतिवाद का समन्वय हो जाता है। यह उस वाद और प्रतिवाद का संवाद है, किंतु विचार के इस नवीन स्तर पर यह एक वाद बन जाता है और विचार की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया आगे बढ़ती है। इसका पर्यवसान निरपेक्ष विचार में ही हो सकता है। [5] इस प्रकार हेगेल ने द्वन्द्व न्याय को एक नया अर्थ दिया, जिसके अनुसार यह विचार के विकास की प्रक्रिया है, जो विचार को द्वन्द्वों के माध्यम से द्वन्द्वरहित स्तर तक पहुंचाती है, जहां विचार निरपेक्ष होता है, वह अपने साथ तदात्मक होता है, अर्थात् उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का, विषयी और विषय का, सत्ता और ज्ञान का भेद नहीं रह जाता है। यह सत् के अपरोक्षानुभव की स्थिति होती है।

ब्रैडले के सामने कान्ट और हेगल के दर्शन थे। उसके 'आभास और सत' का आभास भाग पढ़ने पर लगता है कि वह कांट से सहमत है, क्योंकि इस भाग में वह यह दिखाने का अथक प्रयत्न करता है कि विचार स्वभावतः साम्बन्धिक (Relational) है, अतः विचार के अन्तर्विरोध को दूर नहीं किया जा सकता। वह बराबर ही सत् का चिंतन करता है, किंतु ऐसा करने में वह उसे अपने से पृथक् कर किसी न किसी विकल्प (Category) द्वारा व्यक्त करता है। सत को किसी विकल्प द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह न द्वैत है, न सम्बंध है, न प्रत्यक् आत्मा है, न शुभ है, न शुभता है, न स्वयं वस्तु है। सत उनमें से कुछ भी नहीं है, जिन्हें हम विचार द्वारा जानते हैं। [6]

ब्रैडले के द्वन्द्वन्याय का प्रयत्न यहां यह दिखाने का है कि विचार का स्वभाव सर्वेक्षणात्मक (Discursive) और साम्बन्धिक (Relational) है। अतः सत् को जानने के प्रयत्न में वह इसे दो भागों में विभाजित कर देता है। ये भाग तत् (That) और किम् (What) है। तत् 'सत्ता' है और 'किम्' उसका 'अर्थ' (meaning) है। किंतु, 'तत' और 'किम' को पृथक कर देने के बाद, विचार उन्हें अपने मौलिक अभिन्न रूप में प्रस्तुत करने का अथक प्रयास करता है। पर उसके लिए यह संभव नहीं होता, क्योंकि उसका स्वभाव ही 'तत्' और 'किम्' का भेद करके जानने का है। ब्रैडले कहता है कि विचार, सत् को

तादात्म्य रूप में तभी प्रस्तुत कर सकता है, जब वह आत्मघात कर ले, अर्थात अपना रूपांतर कर ले। किंतु, इससे तो समस्या हल नहीं होती। प्रश्न तो यह है कि विचार बिना कुछ और बने अपने अन्तर्विरोध पर काबू पा सकता है या नहीं? यदि पा सकता है, तो कैसे? 'आभास' भाग में ब्रैडले का उत्तर निषेधात्मक प्रतीत होता है। वह यह कहता हुआ प्रतीत होता है कि विचार की अन्तर्वस्तुएं आत्मविरोधी होती है, इसलिए नहीं कि एक अन्तर्बस्तु का विरोध करने वाली दूसरी अन्तर्वस्तु सत्य है, बल्कि इसलिए कि विचार साम्बंधिक है और वह असाम्बंधिक नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार की स्वीकारोक्तियां और नकारोक्तियां दोनों ही आत्मविरोधी सिद्ध होती है।[7]

ब्रैडले का द्वन्द्वन्याय यहां नागार्जुन और चंद्रकीर्ति के द्वन्द्वन्याय से मिलता–जुलता है। माध्यमिक न्याय में किसी निर्णय वाक्य का सत्य उसके विरोधी के असत्यता से निष्पन्न नहीं होता है। ठीक यहीं दशा ब्रैडले के द्वन्द्वन्याय की है। 'आभास और सत' के 'आभास' भाग में वह कोई सत्तात्मक (Ontology) दर्शन नहीं प्रस्तुत करता है बल्कि प्रत्येक सत्तात्मक वाद को अंतर्विरोध प्रस्तुत करता है। यहां ब्रैडले, कांट या माध्यमिक दार्शनिकों की भांति दर्शन का समीक्षात्मक रूप प्रस्तुत करता है। 'आभास भाग' में द्वन्द्वन्याय समीक्षा है और समीक्षा दर्शन है। [8]

किंतु, ब्रैडले के द्वन्द्वन्याय के विकास का यह अंतिम चरण नहीं है। 'सत्य और सत् की श्रेणियों' (Degrees of Truth and Reality) के अध्याय पर पहुंचते ही ब्रैडले का स्वर बदला हुआ प्रतीत होता है। यहां वह यह दिखाने में व्यस्त है कि विचार अपना दोष दूर कर सकता है। उसे सत् के विधेय (Predicate) में विस्तार करना है, जिसे वह विचार की अंतर्वस्तुओं की पुनर्व्यवस्था द्वारा कर सकता है। अब ब्रैडले कान्टीय दर्शन की भूमि छोड़कर हेगल के दर्शन से प्रेरणा प्राप्त करते नजर आते हैं। वह कह रहा है विचार में तत् और किम्, अथवा विचार और सत्ता का भेद मिटाने की क्षमता है। यदि ऐसा न होता तो, यह कहना निरर्थक होता कि सत्य और सत् की श्रेणियां होती हैं।

किंतु तब यह प्रश्न उठता है कि सत् की श्रेणियां कैसे हो सकती हैं, क्योंकि सत की श्रेणियां मानने पर अनेक सत स्वीकार करने पड़ेगे। यह तभी हो सकता है, जब ब्रैडले लाइबनित्ज की भांति, सत् का बहुवादी दृष्टिकोण रखता हो। ब्रैडले का कोई कथन बहुवादी दर्शन का समर्थन नहीं करता। तब यह मानना होगा कि 'सत् की श्रेणियां' भ्रामक कथन है और 'सत्य की श्रेणियों' से अलग कर देने पर यह और अधिक भ्रामक हो जाता है। श्रेणियां सत्य और सत् की है। सत्य, सत् की अनुकृति (copy) है। सत्य या मिथ्या केवल प्रत्यय ही होता है – जो विचार की अन्तर्वस्तु है। सत के विषय में निरपेक्ष स्वभाव के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है और वह भी इसलिए कि उसका निषेध संभव नहीं है। शारीरिक अवस्था में विचार की अंतर्वस्तु के रूप में हम जो कुछ भी जानते हैं, वह विरोध रहित नहीं होता और सत विरोध रहित है। अतः, सत विचार की अंतर्वस्तु नहीं बन सकता। सत्य वैचारिक वस्तु का ही विशेषण बनता है, उसका नहीं जो विचार में प्रस्तुत नहीं होता। किंतु, सांसारिक दशा में सत्य ही मात्र 'सत्' है, जिसे हम जानते हैं। इस प्रकार, सत्य पूर्ण रूप से सत्य होता है, न पूर्ण रूप से असत्य। विचार द्वारा जिसे हम जानते हैं। वह हमारा संसार है, जो न्यूनाधिक सत होता है। [9]

अतः ब्रैडले अपने द्वन्द्वन्याय में, सत् के विचार को परमसत या निरपेक्ष सत के अंतर्बोध से जोड़ने का मार्ग खोज लेता है। मैं ब्रैडले के दर्शन के विरोधाभास को दूर करने के लिए पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा अथवा भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के व्यवहार और परमार्थ के भेद की सहायता लेते हुए कह सकती हूं कि पारमार्थिक दृष्टि से 'आभास' 'असत' है किंतु व्यावहारिक दृष्टि से विचार में उपलब्ध संसार ही एकमात्र 'सत्' है, जिसमें श्रेणियां है, विरोध हैं। परमसत होने के लिए इसे विरोधों से मुक्त होना चाहिए, अपरोक्षानुभव में प्राप्य एक मूर्त पूर्ण होना चाहिए, जिसमें विचार और विचार के विषय का विभाजन न हो। किंतु हमारा कोई भी मत, विचार या कथन उस विरोध रहित को व्यक्त करने में असमर्थ है। भारतीय दार्शनिकों ने भी इस असमर्थता का अनुभव किया था। वेदांत सूत्रों के प्रणेता वादरायण ने कहा– ''प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिबेधति ततो व्रतीति च भूयः।' अर्थात् – 'वह ऐसा है', कह कर बताने के हमारे स्वाभाविक ढंग का विरोध करता है, फिर भी हम बरंबार कहते हैं। श्रुतियों के गायक ऋषियों ने उस परमसत को 'नेति–नेति' कह कर सूचित किया कि–'वह' ऐसा नहीं हैं, 'ऐसा नहीं है'।[10] ब्रैडले अंततः

उसी नतीजे पर पहुंचता है– 'हमारा कोई भी विचार या कथन उस पूर्ण एकता को व्यक्त नहीं कर पाता, किंतु उस विचार में उस तक पहुंचने का प्रयास अंतर्भूत है, जो सूचित करता है कि वह है।

संदर्भ सूची

1. Thilly, Frank - A History of Philosophy, p. 175, Central Publishing House, Allahabad, 1985.

2. Thilly, Frank - A History of Philosophy, p. 180, Central Publishing House, Allahabad, 1985.

3. Falckenberg Richard - History of Modern Philosophy, Progressive Publishers, Calcutta, 1977, p. 127

4. Falckenberg Richard - History of Modern Philosophy, Progressive Publishers, Calcutta, 1977, p. 140

5. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय – पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियां–अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 285

6. Bradley, F.H. - Appearance and Reality, Clarendon Press Oxford Ninth Impression, 1951, p. 124

7. Bradley, F.H. - Appearance and Reality, Clarendon Press Oxford Ninth Impression 1951, p. 128

8. Bradley, F.H. - Appearance and Reality, Clarendon Press Oxford Ninth Impression 1951, p. 152

9. Bradley, F.H. - Appearance and Reality, Clarendon Press Oxford Ninth Impression 1951, p. 160

10. बृहदारण्यक उपनिषद– 3.9.26, 4.2.4, 4.4.5, 4.4.15, श्री राम शर्मा आचार्य कृत हिंदी टीका सहित, चौखम्बा विश्व भारती, वाराणसी